विविध ग्रन्थमाला -१६

बौद्ध लघु नाटक

- गौतम की जीवदया
- गौतम का गृहत्याग
- परमार्थचिन्तनम्

H
294.763
J 568 B

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी

बुद्धाब्द-२५४५ ख्रीस्ताब्द-२००१

MISCELLANEOUS SERIES - XVI

BAUDDHA LAGHU NĀṬAKA

- Gautama Kī Jīvadayā
- Gautama Kā Gṛhatyāga
- Parmārtha-Cintanam

CENTRAL INSTITUTE OF HIGHER TIBETAN STUDIES
SARNATH, VARANASI

B.E. 2545 C.E. 2001

MISCELLANEOUS SERIES - XVI

Chief Editor: *Prof. Geshe Ngawang Samten*

Publication Incharge: *Samten Chhosphel*

First Edition: 550 copies, 2001

Price: Rs. 30.00

© Copyright by Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath, Varanasi -221007, India, 2001. All rights reserved.

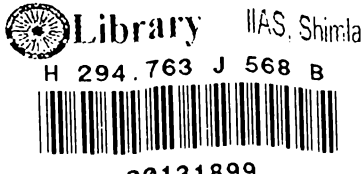

Publisher:
Central Institute of Higher Tibetan Studies,
Sarnath, Varanasi-221007, India.

Printed at Sattanam Printing Press, Pandeypur, Varanasi

विविध ग्रन्थमाला -१६

बौद्ध लघु नाटक

- गौतम की जीवदया
- गौतम का गृहत्याग
- परमार्थचिन्तनम्

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी

बुद्धाब्द-२५४५ ख्रीस्ताब्द-२००१

विविध ग्रन्थमाला -१६

प्रधान सम्पादक : प्रो० गेशे ङवङ समतेन

प्रकाशन प्रभारी : श्री समतेन छोस्फेल

प्रथम संस्करण : ५५० प्रतियाँ, २००१

मूल्य : रु० ३०.००

© केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान,
सारनाथ, वाराणसी , २००१
प्रकाशन सम्बन्धी सभी अधिकार सुरक्षित ।

प्रकाशक :
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान,
सारनाथ, वाराणसी-२२१००७

मुद्रक : सत्तनाम प्रिंटिंग प्रेस, पाण्डेयपुर, वाराणसी ।

प्रकाशकीय

बौद्ध लघु नाटक नामक यह ग्रन्थ पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए मुझे प्रसन्नता हो रही है। इधर विश्व में बौद्ध धर्म, दर्शन और बौद्ध विद्याओं के प्रति रुचि जागरित हुई है। बौद्ध अध्ययन की सामग्री और उसका प्रचार-प्रसार संस्थान का उद्देश्य है। काव्य, नाटक आदि के माध्यम से सामान्य सुधी जनों को बौद्ध विचारों से अवगत कराने में सुविधा होती है। इस दृष्टि से इस ग्रन्थ की उपयोगिता निःसन्देह परिलक्षित होती है।

आजकल विद्यालय, महाविद्यालयों में वार्षिक उत्सव आदि अनेक अवसरों पर नाटक आदि के मंचन की भारत में प्रथा है। भगवान् बुद्ध, बोधिसत्त्व और बौद्ध धर्म से सम्बद्ध कथानकों के आधार पर निर्मित नाटकों की जिज्ञासा लेकर उन शिक्षा-संस्थाओं के अधिकारी और प्रबन्धक हमारे पास आते रहते हैं। उनकी रुचि के अनुरूप इस ग्रन्थ को संस्थान द्वारा प्रकाशित करते हुए हमें सन्तोष का अनुभव हो रहा है, क्योंकि इससे एक प्रकार के अभाव की पूर्ति हुई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में तीन नाटक संगृहीत हैं। (१) **गौतम की जीव दया** नामक प्रथम लघु नाटिका के रचनाकार और सम्पादक हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् एवं बाल साहित्य विशेषज्ञ डॉ० श्रीप्रसाद हैं। (२) **गौतम का गृहत्याग** नामक द्वितीय नाटक वस्तुतः परमार्थचिन्तनम् नामक संस्कृत रूपक का हिन्दी रूपान्तरण है। इसका अनुवाद एवं सम्पादन संस्थान के प्रो० रामशंकर त्रिपाठी ने किया है। (३) **परमार्थचिन्तनम्** नामक तृतीय नाटक का संग्रथन बौद्ध जगत् के प्रसिद्ध मनीषी स्व० जगन्नाथ उपाध्याय ने किया था। बौद्ध नाटकों की कमी को देखकर उन्होंने बुद्धचरित, सौन्दरनन्द, बोधिचर्यावतार आदि ग्रन्थों के आधार पर

इसे उपनिबद्ध किया था। इसका उच्च शिक्षा-संस्थाओं में अनेक बार मंचन हुआ है। इससे द्रष्टा प्रभावित हुए हैं और इसकी सराहना हुई है।

हम इन नाटकों के लेखकों के प्रति अपनी श्रद्धा अभिव्यक्त करते हैं और उनके लेखकों, सम्पादकों, अनुवादकों को इस पुण्य कार्य के लिए साधुवाद देते हैं। हम आशा करते हैं कि भविष्य में भी वे इस प्रकार की कृतियाँ श्रद्धालु जिज्ञासुओं के समक्ष प्रस्तुत करेंगे।

हम प्रकाशन अनुभाग के अधिकारियों और कर्मचारियों को भी साधुवाद देते हैं, जिन्होंने परिश्रम के साथ सुन्दर और शीघ्र प्रकाशन में सहयोग किया है।

बुद्ध पूर्णिमा
दिनांक : ७ मई, २००१

प्रो० गेशे ङवङ् समतेन
निदेशक

अनुक्रम

प्रकाशकीय	v
विषयानुक्रम	vii
गौतम की जीवदया	१-९
गौतम का गृहत्याग	११-३०
परमार्थचिन्तनम्	३१-४८

•

गौतम की जीवदया

रचनाकार एवं सम्पादक

डॉ० श्रीप्रसाद

गौतम की जीवदया के पात्र

गौतम	–	सिद्धार्थ राजकुमार
देवदत्त	–	सिद्धार्थ के चचेरे भाई
दरबारी	–	राजसभा के सदस्य
वृद्ध दरबारी	–	राजसभा के सदस्य

•

गौतम की जीवदया

प्रथम दृश्य

[जंगल। पक्षी बोल रहे हैं। गौतम धनुष-बाण लिए हुए चिन्तामग्न घूम रहे हैं। उसी समय आकाश से एक सफेद हंस गिरता है। हंस के शरीर में बाण बिंधा है। गौतम हंस को देखते ही उठा लेते हैं।]

गौतम : आह! बाण यह किसने मारा ?
(बाण निकालते हुए)
किसने घायल किया हंस को
बिना दोष के।
यह अपनी भूरी पाँखें
फैलाए फर फर
सर सर उड़ता था
हिलते जैसे कोमल पत्ते पेड़ों के
हरे-हरे, डाली के ऊपर।
कितना भोला, कितना कोमल
कभी तैरता, कभी उछलता
और कभी उड़ता पंखों पर
सुन्दर पाँखी।
खाकर पैना बाण तड़पता है यह कैसा
जैसे कोई प्राण खींचता हाथ डालकर,
जैसे कोई साँप डँस गया हो सोते को
जाग गया हो
उसका दम घुटता हो बेबस।
(हंस की ओर देखकर)
आह, हंस!

जब तुम उड़ते
अच्छे लगते थे
किन्तु आज लगते हो बेदम
लथपथ होकर रँगे खून से।

(उसी समय एक ओर से देवदत्त आता है और गौतम को हंस लिए हुए देखकर उनसे माँगता है।)

देवदत्त : हंस तुम्हारा नहीं
उसे तुम क्यों छूते हो।
बाण हमारा उसे लगा है
अभी अभी हमने इसको देखा था उड़ते
तभी बाण से इसको मारा
इसे छोड़ दो
यह तो है अन्याय तुम्हारा
अगर नहीं विश्वास आ रहा तुम्हें बात का
तो देखो यह बाण हमारा
हमने इसे पिताजी से कल ही माँगा था
चलो पुछा दें।
तुमने इसे नहीं मारा है
इसे छोड़ दो
बाण तुम्हारा इसे बेधता
तो सच कहते हैं हम इसको कभी न छूते
(छीनते हुए)
दे दो, दे दो।

गौतम : नहीं।

देवदत्त : नहीं क्यों।

गौतम : हंस तुम्हारा नहीं।

देवदत्त : वाह, हमने मारा है
बाण देख लो
(बाण की ओर संकेत)
मेरा अपना, तुम दोनों ही
बाण मिला लो।

गौतम : भैया बात ठीक है,
लेकिन.....

देवदत्त : लेकिन क्या ?
दो हंस हमारा
हमने मारा है
तुम इसको क्यों छूते हो ?

गौतम : हंस तुम्हीं ने मारा है
यह बात सही है
लेकिन तुम घातक हो
पक्षी के प्राणों के
बाण नहीं यदि तुमने इसको मारा होता
तो यह कैसा उड़ता फिरता
जैसे उड़ती हवा सुहानी।
यहाँ वहाँ आकाश नापता
कभी ढूँढ़ता अपने शिशु को
कभी हंसिनी को दौड़ाता
लेकिन अब तो यह घायल है।

देवदत्त : यह सब हमको नहीं सुनाओ
हंस तुम्हें लेना है
इससे बात बनाते
किन्तु हंस यह तुम्हें नहीं हम लेने देंगे
तुमने इसे नहीं मारा है।

गौतम : हंस तुम्हारा नहीं
बाण मारा इससे क्या
प्राण बचाए हैं हमने ही
हम इसको घर ले जाएँगे
और दवा से इसे ठीक कर देंगे
नहीं रखेंगे इसको।
इसे छोड़ देंगे हम आसमान में ऊपर
फिर पहले की तरह उड़ेगा भोला पंछी

देवदत्त : *(झगड़ते हुए)* तुमको हंस नहीं हम देंगे
इसे छोड़ दो।

गौतम : नहीं।

देवदत्त : नहीं क्यों ।

गौतम : अच्छा चलो पिताजी से हम न्याय करा लें
अगर कहें वे—
जिसने मारा हंस उसी का
तो तुम लेना
और अगर वे.....

देवदत्त : बहुत ठीक है।

गौतम : और अगर वे कहें.....
बचाया जिसने, हंस उसी का होगा
तो फिर हम इसको ले लेंगे।

देवदत्त : चलो भला।

गौतम : हाँ, चलो, चलें हम।

(दोनों जाते हैं)।

•

द्वितीय दृश्य

[राजा का दरबार। सिंहासन पर गौतम के पिता बैठे हैं। अगल-बगल अनेक दरबारी। दूर सामने कुछ साधारण लोग बैठे हैं। गौतम हंस लेकर आते हैं। देवदत्त उनके पीछे है। दोनों बारी-बारी से राजा तथा अन्य दरबारियों को प्रणाम करते हैं।]

गौतम : *(राजा की ओर संकेत)* यह है हंस
जिसे भैया ने.....।

देवदत्त : *(बीच में ही)* हाँ इसको हमने मारा है
हम ही लेंगे।
सुनिए—
इसको हमने देखा
यह उड़ता था
हमने मारा बाण, तुरत धरती पर
घायल होकर आया
लेकिन तब तक ये पहुँचे
जो वहीं कहीं पर टहल रहे थे
ये कहते हैं हंस हमारा
लेकिन, कैसे ? कहिए।

एक दरबारी : *(सिर हिलाते हुए)* बात ठीक है
मेहनतवाले को फल मिलता।
(गौतम की ओर) अच्छा गौतम
तुम क्या कहते हो
बोलो अब।

गौतम : हंस हमारा नहीं
न तो हमने मारा ही
भैया देवदत्त ने ही इसको मारा है
लेकिन वे केवल घातक हैं।
(कुछ लोग स्वीकृति में सिर हिलाते हैं)
हमने इसका बाण निकाला
प्राण बचाए।
अब इसको हम ठीक करेंगे
और छोड़ देंगे फिर इसको
आसमान में उड़ जाने को
हमको क्या अधिकार,
प्राण जो हम इसका लें
किन्तु नहीं यह जब तक होगा ठीक
रखेंगे इसे पास में।
जो प्राणों को ले
उसका है हंस नहीं यह
किन्तु करे जो रक्षा
प्राण बचाए
हंस उसी का होगा
फिर जो बात उचित हो
न्यायपूर्ण हो
आप उसी को बोलें।

एक वृद्ध दरबारी : देवदत्त की
और बात गौतम की हमने सुनी।
न्याय पक्ष गौतम का ही है
जिसने प्राण बचाया
हंस उसी का होगा

दुनिया में है कठिन दूसरों को सुख देना
दुख कोई भी दे सकता है
हंस बचाकर दया दिखाई है गौतम ने
देवदत्त ने बाण चलाकर
सिर्फ प्राण ही लेना चाहा
हंस मिलेगा गौतम को ही
उनके मन में बड़ी दया है
उनकी जैसी दया सभी के मन में आए
अमर बनेंगे गौतम अपनी दया दिखाकर
सबके साथ प्रेम, सबसे करुणा दिखलाकर
अमर बनेंगे गौतम
गौतम अमर बनेंगे।

(लोग सिर हिलाते हैं और 'बहुत ठीक, बहुत ठीक, ठीक न्याय हुआ है' कहने के साथ परदा गिरता है)

•

गौतम का गृहत्याग

रूपान्तरकार एवं सम्पादक

प्रो० रामशङ्कर त्रिपाठी

गौतम का गृहत्याग के पात्र

राजा शुद्धोदन	–	सिद्धार्थ के पिता
सिद्धार्थ	–	राजकुमार
छन्दक	–	सारथि
मित्र	–	सिद्धार्थ का मित्र
विनयधर	–	राजा के धर्म मन्त्री
मन्त्रधर	–	राजा के मन्त्री
प्रतिहारी	–	सन्देशवाहक
रोगी	–	गृहत्याग के निमित्त
वृद्ध	–	,, ,, ,,
मृतक	–	,, ,, ,,

•

गौतम का गृहत्याग

(सूत्रधार का प्रवेश)

सूत्रधार : *(सहर्ष चारों ओर देखकर)*—अनेक देशों और प्रदेशों के संस्कार-सम्पन्न महापुरुषों से भरी पूरी इस परिषद् के सामने निश्चय ही अभिनय करना उचित होगा। इनके मनोरंजन के लिए किसी नये नाटक को लेकर हमें उपस्थित होना चाहिए *(सोचकर)*।

''इस संसार मण्डल के भूषण भगवान् बुद्ध का उत्पन्न होना 'अद्भुत' है, जिन्होंने मानव-जाति को देवताओं से भी श्रेष्ठ बना दिया है''।

आज का मानव भयंकर अस्त्र-शस्त्रों के आविष्कार से भयाक्रान्त है। युद्ध की विभीषिका से अपने अस्तित्व के प्रति सशंकित है। लोभ, द्वेष, पदलिप्सा, यशोलिप्सा और सत्तामोह में पूरा समाज आकण्ठ मग्न है। प्रान्तीयता, सम्प्रदायवाद, वर्गवाद, वर्णभेद, जातीयता और भाषावाद आदि अनेक संकीर्णताओं से वह जर्जर हो चुका है। ऐसे इस युग में शान्ति तथा समस्त क्षुद्रताओं से मुक्त होने के लिए शील, समाधि और प्रज्ञा से आलोकित भगवान् बुद्ध का मार्ग ही श्रेयस्कर है—ऐसा सोचकर सिद्धार्थ के महान् गृहत्याग को कथावस्तु बनाकर 'गौतम का गृहत्याग' नामक नाटक आज हम प्रस्तुत करना चाहते हैं।

(नेपथ्य में) (सारथि, यह कौन है?) (सूत्रधार अपने कान का स्पर्श करके) मालूम हो गया। राजकुमार सिद्धार्थ सारथि के साथ कपिलवस्तु के उपवन में विहार करने के लिए इधर ही आ रहे हैं। अतः शेष रङ्गकर्मियों को अपने-अपने कार्य में संयोजित करने के लिए अब हमारा नेपथ्य में जाना ही उचित है। *(निष्क्रान्त)*।

●

गौतम का गृहत्याग

[गौतम का अभिनिष्क्रमण]

प्रथम दृश्य

[राजमार्ग। राजकुमार के वेष में सारथि के साथ सिद्धार्थ दिखलाई पड़ते हैं। जरा से जर्जरित एक अत्यन्त वृद्ध डण्डे के सहारे चलता हुआ दिखलाई देता है। सिद्धार्थ ने ऐसा आदमी पहले कभी नहीं देखा था, अत: सारथि से पूछते हैं।]

सिद्धार्थ : सारथि, यह कौन है? क्या इसका यही स्वाभाविक रूप है या यह कोई रोग है?

सारथि : आयुष्मन्, यह वृद्धावस्था है, जो सौन्दर्य और बल को नष्ट कर देती है, दु:खों को जन्म देती है, स्मृति का नाश करती है तथा इन्द्रियों की शत्रु है। यह आदमी उसी वृद्धावस्था का शिकार है।

सिद्धार्थ : क्या यह विकार मुझे भी होगा?

सारथि : अवश्य, श्रीमन्।

सिद्धार्थ : क्या महान् आर्य मेरे पिता को भी?

सारथि : बेशक, उन्हें भी।

सिद्धार्थ : क्या मेरी प्रियतमा यशोधरा और हृदय के टुकड़े राहुल की भी यही दशा होगी?

सारथि : हाँ महाराज! किसी एक की नहीं, भूमण्डल के सारे प्राणियों की यही नियति है।

[सिद्धार्थ शोक में डूब जाते हैं। थोड़ी देर बाद सम्भल कर जब वे आगे चलने को होते हैं, तब तक उन्हें एक रोगी दिखलाई पड़ता है। इससे पहले ऐसा आदमी सिद्धार्थ ने कभी नहीं देखा था, अतः वे सारथि से पूछते हैं]

सिद्धार्थ : इतना दुबला-पतला, झुके हुए कन्धे और फूले हुए पेट वाला, श्वास-प्रश्वास के साथ जिसका पूरा शरीर हिल रहा है और माँ-माँ की दीन वाणी बोल रहा है, यह आदमी कौन है?

सारथि : यह प्रकृति के प्रकोप से उत्पन्न मर्मान्तक रोग से पीड़ित है, जिस रोग के कारण बलशाली भी शिथिल हो जाते हैं।

सिद्धार्थ : तब इस संसार में सुख क्या है? देह का सौन्दर्य क्या है? जो नित्य ही जरा और व्याधि से ग्रस्त है।

[सिद्धार्थ राजभवन की ओर लौटने लगते हैं, तभी नेपथ्य में चीत्कार सुनाई पड़ता है। सिद्धार्थ उस ओर देखते हैं, उन्हें मुर्दा ले जाते हुए चार व्यक्ति दिखलाई पड़ते हैं।]

सिद्धार्थ : अरे, यह कौन है, जिसे चार आदमी लिए जा रहे हैं?

सारथि : प्रभु, आदमी का यह वही शरीर है, जो बुद्धि, इन्द्रिय और प्राणों से अलग हो जाने के कारण लकड़ी के समान संज्ञाशून्य हो गया है।

सिद्धार्थ : धिक्कार है, उस तरुणाई को, जो पूरी तरह जरायुक्त है। धिक्कार है, उस स्वास्थ्य और सौन्दर्य को, जो प्रतिदिन

रोगों का शिकार होता है। धिक्कार है उस जीवन को जो विद्युत् के समान नितान्त चंचल है। *(सोचकर)* क्या ऐसी कोई स्थिति हो सकती है, जिस पर बुढ़ापे, रोग और मृत्यु का कोई प्रभाव न हो या इनका शिकार होना ही मानव-समाज की नियति है? *(सारथि के प्रति)* सूत, घर की ओर ही चलें, इस उपवन-विहार के क्षणिक सुख में क्या सार है?

सारथि : रथ ला रहा हूँ *(निकल जाता है)*।

सिद्धार्थ : मेरा व्यामोह नष्ट हो गया। शाक्यगणतन्त्र की राजधानी कपिलवस्तु का यह महावैभव, अन्तःपुर में निवास करनेवाली सुन्दरियों के भ्रूविलास, प्रेयसी यशोधरा के मधुर आलाप, अत्यन्त मधुर शिशु राहुल की पवित्र मुस्कराहट और तुतलाती बोली, ये सभी कुछ विडम्बनाएं हैं। ये सारे लोग रोग, बुढ़ापे और मृत्यु को एक क्षण भी रोकने में समर्थ नहीं हैं। मैं सोचूँगा कि प्राणीमात्र का इनसे छुटकारा कैसे हो।

•

द्वितीय दृश्य

[सिद्धार्थ राजभवन में कुछ सोचते हुए टहल रहे हैं]

सिद्धार्थ : अपने और पराये में समान बुद्धि रखते हुए, विषयों के प्रति राग और द्वेष न रखते हुए मुझे इस नाशवान् जगत् में अक्षय और शिव पद की खोज करनी चाहिए। अच्छा हो, मैं भिक्षा में जो कुछ मिले, उससे जीवन-यापन करते हुए संग्रह की भावना त्याग कर और आकांक्षाओं से मुक्त होकर किसी वृक्ष की जड़ में, निर्जन स्थान में, पर्वत या वन में विचरण करूँ और परमार्थ का चिन्तन करूँ।

(मित्र का प्रवेश)

मित्र : आर्य, राजा ने मुझे तुम्हारा मित्र बनाया है। इसलिये मैं मित्रता की प्रतिज्ञा करके पुरुषार्थ से विमुख तुम्हारी उपेक्षा कर दूँ तो फिर मेरी तुम्हारे साथ मित्रता कैसी? अतः मित्रभाव से मैं तुमसे जो कुछ कहता हूँ, उसे सुनो—

प्रसिद्ध सूर्यकुल में तुम्हारा जन्म हुआ है। नई उम्र है और बड़ा सुन्दर है तुम्हारा यह शरीर। इसलिए धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्ग का पालन करते हुए अपने इस सुन्दर रूप को चरितार्थ करो।

नारियों के प्रति यह उदासीनता तुम्हारे लिए बिलकुल उचित नहीं है। दुर्लभ विषय भोग, जो तुम्हें सहज प्राप्त हैं, उनकी उपेक्षा करना भी तुम्हारे लिए किसी प्रकार

योग्य कार्य नहीं है। अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, देखो—

देवराज इन्द्र, महान् तपस्वी अगस्त्य, देवगुरु बृहस्पति, चन्द्र, पराशर, वशिष्ठ, ययाति, पाण्डु इन सभी बड़े-बड़े महापुरुषों ने रमणभाव से आकृष्ट होकर निन्दित विषयों का भी भोग किया है।

दूसरी ओर तुम हो, जो रूपवान् और युवा हो, धर्म और न्याय से प्राप्त विषयों की भी अवज्ञा कर रहे हो, जिनमें सारा संसार आसक्त है।

सिद्धार्थ : मित्र, सहृदयता के परिचायक तुम्हारे ये सारे वाक्य पूरी तरह युक्तिसंगत होते, यदि यह जगत् जरा, व्याधि और मृत्यु आदि सैकड़ों दुःखों से पीड़ित न होता।

मैं विषयों की अवहेलना नहीं करता और यह भी जानता हूँ कि सारा जगत् इनके प्रति आकृष्ट है, किन्तु उनकी अनित्यता और नश्वरता जान लेने से उनमें मेरा मन ही नहीं रमता।

जो तुमने यह कहा कि इन्द्र, बृहस्पति, ययाति आदि महापुरुष भी कामभोगों के प्रति आकृष्ट थे, इस पर मेरा कहना है कि वे बड़े लोग थे।

मैं तो धर्मभीरु और अत्यन्त उद्विग्न हूँ। इस सम्पूर्ण जगत् को जरा, व्याधि और अनेक दुःखों से त्रस्त और जलते हुए घर की तरह देखकर जब अपने भीतर ही शान्ति और धैर्य नहीं धारण कर पा रहा हूँ तो ऐसी स्थिति में उनमें रमण करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

प्रतिहारी : महाराज, आपके वियोग में दु:खी देवी आपकी प्रतीक्षा कर रही हैं।

मित्र : देवी को सन्तोष देने आप अन्त:पुर में जाइए और मैं सभाभवन की ओर जाता हूँ। *(जाता है)*।

सिद्धार्थ : *(प्रतिहारी के प्रति)* देवी के भवन का मार्ग दिखलाओ।

प्रतिहारी : इधर से देव।

•

तृतीय दृश्य

[राजभवन में महाराज शुद्धोदन सिंहासन पर बैठे हैं। अगल-बगल में विनयधर और मन्त्रधर मन्त्री हैं]

शुद्धोदन : कुमार सिद्धार्थ हमेशा कुछ न कुछ सोचते रहते हैं, किसी श्रेष्ठ उद्देश्य की खोज में रहते हैं। अतः उनका मन दूसरी ओर लगाना चाहिए।

मन्त्रधर : *(आते हुए कुमार को देखकर)* महाराज, आयुष्मान् कुमार इधर ही आ रहे हैं।

विनयधर : आपका स्वागत है कुमार।

(विनयधर और मन्त्रधर दोनों कुमार का अभिनन्दन करके उन्हें पिता के समीप दूसरे सिंहासन पर बैठाते हैं)

शुद्धोदन : पुत्र, नृत्य समारोह को सफल करने तुम नहीं गए ?

कुमार : *(चुप रहते हैं)*

शुद्धोदन : कुमार, क्या तुम उदास हो ?

सिद्धार्थ : महाराज, मैं मोक्ष के लिए संन्यास लेना चाहता हूँ। मुझे आज्ञा दीजिए।

शुद्धोदन : *(काँपते हुए)* पुत्र, ऐसी बात मत सोचो, मत सोचो। तुम्हारे लिए यह समय धर्मसेवन का नहीं है। इसलिए इस निश्चय को छोड़ दो और गृहस्थ धर्म का पालन करो। कुमार, एक उम्र तक सुखों को भोगकर तत्पश्चात् ही तपोवन में प्रवेश करना चाहिए।

सिद्धार्थ : यदि आप इन चार बातों की जिम्मेदारी ले लें तो मैं तपोवन जाने का निश्चय न लूँ।

शुद्धोदन : कौन-सी चार बातें?

सिद्धार्थ : मेरा जीवन मृत्यु के लिए न हो।

मेरा स्वास्थ्य ऐसा ही बना रहे, उस पर रोगों का आक्रमण न हो।

बुढ़ापा मेरे यौवन का विनाश न करे।

विपत्तियाँ इस सम्पत्ति का अपहरण न कर सकें।

यदि आप ऐसा न कर सकें तो मुझे वन जाने से न रोकें।

पिताजी, मैं भयंकर विषधरों से उतना नहीं डरता, न तो आकाश से गिरनेवाली बिजलियों से ही डरता हूँ। न आँधी और उससे युक्त आग से ही उतना डरता हूँ, जितना भय मुझे इन विषयभोगों से है।

शुद्धोदन : नहीं, नहीं, पुत्र *(मूर्च्छित हो जाते हैं)।*

मन्त्रधर : शाक्यराज, आप असमय क्यों दु:खी हो रहे हैं, हम लोग कुमार को समझाएंगे।

विनयधर : कुमार, आपके कारण उत्पन्न शोक-रूपी काँटे के हृदय में प्रविष्ट हो जाने से महाराज मूर्च्छित हो गये हैं। तुम्हारे ही कारण उत्पन्न दु:ख के समुद्र में महाराज डूब रहे हैं। जिसकी नाव समुद्र में टूट गई हो, ऐसे आश्रयहीन व्यक्ति की तरह महाराज को तुम उस शोक-समुद्र से उबारो।

सिद्धार्थ : माता-पिता का जो भाव अपनी सन्तान के प्रति होता है, उससे मैं परिचित हूँ। विशेषकर महाराज का जो भाव मेरे प्रति है, उसे मैं अच्छी तरह जानता हूँ, किन्तु व्याधि,

13/8/99

वृद्धावस्था और विपत्तियों से मैं भयभीत हूँ और इनके लिए कोई अन्य उपाय न होने से स्वजनों का त्याग कर रहा हूँ।

और फिर, केवट, चाण्डाल और कृषक आदि जब अपनी जीविका कमाने मात्र के लिए कठोर शीत, ताप और अन्य भयंकर दु:खों को सहन करते हैं, तब संसार के कल्याण के लिए मैं क्यों न दु:खों को स्वीकार करूँ ?

मन्त्रधर : कुमार, धर्म, अर्थ और काम के विषय में तुम्हारी बुद्धि अधिक सूक्ष्म और तीक्ष्ण नहीं है। इसलिए तुम्हारे हित में यह उचित नहीं है कि तुम अदृश्य फल के लिए प्रत्यक्ष और उपलब्ध साधनों का परित्याग करो।

कुछ लोग कहते हैं कि पुनर्जन्म है, कुछ कहते हैं कि नहीं है। कुछ लोग परलोक को मानते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि मोक्ष होता ही नहीं। कुछ लोग कहते हैं कि यह संसार अपने स्वभाव से ही उत्पन्न है, इसलिए मोक्ष के लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है। कुछ लोग इस सृष्टि को ईश्वर से उत्पन्न मानते हैं, इसलिए पुरुषार्थ के लिए अवकाश ही नहीं है। इस तरह पूर्वाचार्यों के जब भिन्न-भिन्न मत हैं, तो यह विषय संशयग्रस्त है। ऐसी स्थिति में प्राप्त विषयों का भोग करना ही समुचित है।

विनयधर : कुमार, मोक्ष क्या है? देव-ऋण, पितृ-ऋण और ऋषि-ऋण—इन तीन ऋणों से मुक्त होना ही 'मोक्ष' है। इसलिए यदि मोक्ष के प्रति तुम्हारा अनुराग है तो न्यायपूर्वक भोगों का सेवन करो। इस प्रकार तुम्हारा मोक्ष भी सिद्ध हो जाएगा और महाराज के सन्ताप का भी नाश होगा।

सिद्धार्थ : परस्पर विरुद्ध और संशयग्रस्त दर्शन मेरे लिए उपयुक्त नहीं है। क्या सही है, क्या गलत है—इस बारे में मेरा कोई निश्चय नहीं है। मैं तो तपस्या और योग के द्वारा तत्त्व को जानकर जो निश्चित होगा, उसे ग्रहण करूँगा।

प्रतिहारी : महाराज, यज्ञ समाप्त हो रहा है। यज्ञ का फल लेने के लिए पुरोहित लोग आपका स्मरण कर रहे हैं।

मन्त्रधर : महाराज, कुमार मेधावी और चतुर हैं। वे ऐसा ही करेंगे, जिससे महाराज को सन्तोष होगा। यज्ञफल लेने का काल बीत रहा है, अतः आप वहाँ पधारें।

•

चतुर्थ दृश्य

[आधी रात का समय, अन्तःपुर में अल्प प्रकाश, सिद्धार्थ रंगशाला में शयन करती हुई नारियों को देखते हुए उनकी स्थिति का वर्णन करते हैं]

सिद्धार्थ : कोई स्त्री नए कमल-दण्ड के समान कोमल, स्वर्ण के समान उज्ज्वल एवं बाजूबन्द पहनी हुई भुजाओं पर सो रही है। कोई मृदङ्ग को ही अपना प्रिय समझकर उसे भुजाओं में लपेट कर सो रही है। कोई शारीरिक गुणों से तथा धैर्य से युक्त होते हुए भी निद्रा के वशीभूत होकर लज्जाहीन स्थिति में सोई हुई है। किसी का कण्ठसूत्र खुल गया है। किसी का मुँह खुल गया है। किसी के मुँह से लार टपक रही है। किसी को अपने शरीर के अंगों का ही होश नहीं है। कोई नशे की स्थिति सा आचरण कर रही है। किसी का मुँह एवं शरीर टेढ़ा-मेढ़ा हो गया है और बड़बड़ा रही है। कोई यद्यपि कुछ बोल नहीं रही है, किन्तु उसका शरीर विकृत हो गया है।

[इस दृश्य को देखकर जुगुप्सा के भावों से युक्त सिद्धार्थ चिन्तन करते हुए सीढ़ी से नीचे उतरते हैं]

यह जो मनुष्यजन्म रूपी क्षण प्राप्त हुआ है, वही समस्त पुरुषार्थों को सिद्ध करनेवाला है। इस क्षण में यदि सम्पूर्ण हितचिन्तन नहीं कर लिया गया, तो फिर पता नहीं, यह क्षण दुबारा प्राप्त होगा या नहीं।

बहुत से लाभ और सुखों का भोग करके भी मनुष्य अन्त में लुटे हुए पुरुष की तरह खाली हाथ होकर ही जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि मनुष्यरूपी नाव को

प्राप्त कर दु:खरूपी समुद्र को पार कर लिया जाए। यह सोने का समय नहीं है और यह नाव भी अत्यन्त दुर्लभ है।

(आत्मगत) तो मैं छन्दक को बुलाऊँ। *(प्रकट)* छन्दक, छन्दक।

छन्दक : आज्ञा दीजिए महाराज।

सिद्धार्थ : कन्थक नामक अश्व को शीघ्र लाओ। अमृत प्राप्त करने के लिए आज ही मैं यहाँ से जाना चाहता हूँ।

छन्दक : जैसी आपकी आज्ञा।

सिद्धार्थ : *(मन में)* जब तक मैं जन्म और मृत्यु का रहस्य नहीं जान लूँगा, तब तक मैं पुन: कपिलवस्तु में प्रवेश नहीं करूँगा।

(छन्दक और राजकुमार का बहिर्निष्क्रमण)

नेपथ्य में

वृद्ध पिता, नन्हें पुत्र, श्रेष्ठ पत्नी, अनुरक्त प्रजा और महान् राज्यलक्ष्मी को छोड़कर दृढ़निश्चयी और निरपेक्ष राजकुमार सिद्धार्थ अपने पितृनगर से बाहर हो गए।

•

पंचम दृश्य

[भोर का समय, भार्गव ऋषि का आश्रम, स्वस्थ हरिण एवं पक्षी शयन कर रहे हैं। अश्वपृष्ठ से उतर कर सिद्धार्थ छन्दक से कहते हैं।]

सिद्धार्थ : छन्दक, तुमने मेरा अत्यन्त प्रिय कार्य किया है। मैंने इष्ट पद प्राप्त कर लिया है। मेरी ओर से महाराज को बार-बार प्रणाम कर यह कहना कि मैं न तो स्वर्ग की इच्छा से, न स्नेह की कमी से और न क्रोध से, बल्कि प्राणियों को दु:खों से मुक्त करने की अभिलाषा से ही तपोवन में प्रविष्ट हुआ हूँ।

छन्दक : कुमार, बन्धु-बान्धवों को कष्ट पहुँचाने वाले आपके इन भावों को जानकर मेरा मन वैसे ही डूब रहा है, जैसे नदी के पङ्क में हाथी डूबता है। कहाँ मुलायम गद्दों पर सोने योग्य आपकी यह सुकुमारता और कहाँ कठोर कंकड़-पत्थर और काश-कुश से युक्त यह तपोवन भूमि!

वत्स, स्नेहिल वृद्ध राजा, लालन-पालन करनेवाली माता, पुत्रवत्सल, कुलीन, पतिव्रता देवी यशोधरा और शिशु राहुल को छोड़कर तुम्हारा तपोवन में जाना कथमपि उचित नहीं है।

देव, तुम्हें जंगल में अकेला छोड़कर दग्ध हृदय से पुन: नगर में लौटने में मैं उसी तरह समर्थ नहीं हूँ, जैसे मन्त्री सुमन्त्र राम को छोड़कर लौटने में समर्थ नहीं था।

सिद्धार्थ : छन्दक, मेरे वियोग से उत्पन्न दु:ख त्याग दो।

प्रत्येक जीवन में देहधारियों का बिछुड़ना अनिवार्य है। इतिहास में अनेक यशस्वी एवं समृद्ध महापुरुष हुए हैं, वे सब अपनी समृद्धि और यश के साथ पता नहीं कहाँ चले गए ?

मैं जब तक भयभीत लोगों को अभय और दु:खियों को सुख प्रदान करने में समर्थ न हो जाऊँ, तब तक पेट में धँसी हुई कील के समान मेरा जन्म लेना केवल माता के दु:ख के लिए ही होगा। मैं अनाथों का नाथ, यात्रियों का सहचर, पार जानेवालों के लिए नौका या सेतु तथा गरीबों के लिए अक्षय धन बनना चाहता हूँ। ऐसी स्थिति में मेरे लिए तुम्हारा शोक करना उचित नहीं है। इसलिए मित्र, तुम लौट जाओ।

छन्दक : वत्स, सदा करुणाशील रहकर अब इस तरह स्नेह त्याग करना आपके अनुकूल नहीं है। अत: मेरे ऊपर कृपा कर आप घर लौट चलिए। यदि बन्धुओं और राज्य को छोड़ने का ही आपने निश्चय कर लिया हो, तो कृपया मुझे मत छोड़िए। आपके चरणों में ही मेरी गति है *(पैरों पर गिर जाता है)*।

सिद्धार्थ : *(हाथों के सहारे से)* उठो, छन्दक, उठो। यदि तुम्हारा स्नेह तुम्हें विवश करे तो जाकर फिर लौट आना।

छन्दक : प्रिय, अब अकेले तुम्हारे विना नगर में प्रवेश करना मेरे लिए सम्भव नहीं है। यदि चला भी जाऊँ, तो वहाँ जाकर नगरवासियों से क्या कहूँगा ? तुम्हारे अभाव में आश्रयविहीन देवी यशोधरा के पूछने पर उनसे क्या कहूँगा ?

सिद्धार्थ : छन्दक, मेरे प्रति स्नेह रखने वाले कपिलवस्तु के निवासियों से कहना कि जन्म और मृत्यु का विनाश करके मैं शीघ्र कपिलवस्तु लौटूँगा। यदि इस कार्य में असमर्थ एवं असफल हुआ तो मृत्यु का आलिङ्गन करने में भी मुझे संकोच नहीं होगा। चाहे मेरा शरीर गल जाए, सिर के टुकड़े-टुकड़े हो जाएं, फिर भी मैं कभी राग, द्वेष, मोह आदि दुर्दान्त शत्रुओं के सामने निश्चित रूप से सिर नहीं झुकाऊँगा।

मित्र छन्दक, मेरी ओर से यशोधरा से कहना कि वह वत्स राहुल को ही देखे, वह मेरे वियोग से उत्पन्न तुम्हारे दुःख को दूर करेगा। मुझे भूलने का उसके पास वह एक साधन है। अपने आश्रयदाता वृक्ष के नष्ट हो जाने पर नई लता क्या समीपस्थ दूसरे वृक्ष का आश्रय ग्रहण नहीं करती ? इस प्रकार वह मुझे भूलने का प्रयत्न करे।

मेरे भीतर किसी तरह का कोई धार्मिक अभिमान है—वह ऐसी कोई शङ्का न करे। मैं तो जन्म और मृत्यु के पार क्या है, केवल यह देखने के लिए वन में प्रविष्ट हो रहा हूँ।

तृष्णावान् धन के माध्यम से सुखी होना चाहता है। सामान्य जन कामभोगों से तृप्त होना चाहता है। सज्जन लोग तो विद्या के द्वारा भोगों की उपेक्षा करके चित्त की शान्ति के द्वारा सुख का अनुभव करते हैं। जो कुलपुत्र किसी महान् उद्देश्य से घर के बाहर निकल गया है, उसके लिए घरेलू चिन्ता से परेशान होना युक्त नहीं है। मैं चाहता हूँ कि तुम भी मेरी इस मनोरथ-सिद्धि में सहायक बनो।

छन्दक : बन्धु, तुम्हारा इस प्रकार का दृढ़ निश्चय जानकर भी, मैं जो अश्व लेकर उपस्थित हो गया, लगता है, दैव ने बलपूर्वक मुझसे यह कार्य कराया है।

सिद्धार्थ : छन्दक, दुःख को दूर करने के लिए घर से बाहर निकले हुए व्यक्ति के प्रति चिन्ता करना उचित नहीं है। धर्माचरण के लिए कोई प्रतिकूल समय नहीं होता। मैं प्राणियों के हित का कार्य करूँ, यही मेरा एक मात्र उद्देश्य है।

छन्दक, लो, ग्रहण करो, यह मणि से निर्मित मूँठ वाली तलवार, मुकुट और ये सारे व्यर्थ के राजसी आभूषण।

(छन्दक उन्हें हाथ में ग्रहण करता है)

जाओ छन्दक, आँसू मत गिराओ। तुमने मेरे प्रति कल्याणकारी मित्रता प्रदर्शित की है। क्षमा करना। तुम्हारा सारा परिश्रम अवश्य शीघ्र सफल होगा। मैं जहाँ भृगु मुनि का आश्रय है, वहीं जाता हूँ। *(जाते हुए)*

चाहे शरीर गल जाए, चाहे सिर के टुकड़े-टुकड़े हो जाएं, किन्तु राग-द्वेष रूपी बलवान् शत्रुओं के सामने सिर झुकाना मैं किसी तरह सहन नहीं करूँगा।

•

परमार्थचिन्तनम्

[सिद्धार्थस्य महानिष्क्रमणमधिकृत्य प्रवर्तितं नाटकम्]

रचयिता

प्रो० जगन्नाथ उपाध्यायः

सम्पादकः

प्रो० रामशङ्करः त्रिपाठी

परमार्थ-चिन्तनस्य पात्राणि

सूत्रधारः	-	
शुद्धोदनः	-	पिता (राजा)
सिद्धार्थः	-	पुत्रः
छन्दकः	-	सारथिः
मित्रम्	-	सिद्धार्थस्य मित्रम्
विनयधरः	-	राज्ञो मन्त्री
मन्त्रधरः	-	राज्ञो मन्त्री
प्रतीहारी	-	सन्देशहरः
रोगी	-	निष्क्रमणनिमित्तम्
वृद्धः	-	,, ,,
मृतकः	-	,, ,,

•

परमार्थचिन्तनम्

[सिद्धार्थस्य महाभिनिष्क्रमणम्]

(सूत्रधारः प्रविशति)

सूत्रधारः : *(अवलोक्य सहर्षम्)* अहो परिषदियम् अभिरूपभूयिष्ठा, विभिन्नदेशजनपदमहाजनपरिवृता परिलक्ष्यते। तत्र तावदस्या अनुरञ्जनार्थं केनापि अभिनवेन रूपकेण उपस्थातव्यमस्माभिः। *(विमृश्य)*

अहो संसारमण्डस्य बुद्धस्योत्पाददीप्तता ।
मानुष्यं यत्र देवानां स्पृहणीयत्वमागतम् ।।

साम्प्रतं मानवलोकः आविष्कृतैः नूतनैर्विविधैर्यन्त्रैराक्रान्त इव विपद्यमानो दृश्यते। लोभमात्सर्यादिग्राहशतैः ग्रस्ते, प्रदेश-देश-सम्प्रदाय-वर्ण-वर्ग-लिङ्ग-भाषादिदोषशरैः जर्जरीकृतसमाज-शरीरकेऽस्मिन् युगे शान्त्यै, समस्तदोषपरिहृत्यै च भगवता बुद्धेन देशितः शीलप्रज्ञादिभिरालोकितो मार्ग एव श्रेयान्-इति मत्वा शौद्धोदनेः सिद्धार्थस्य महाभिनिष्क्रमणवृत्तान्तम् अवलम्ब्य प्रवृत्तम् 'परमार्थचिन्तनम्' इति दृश्यपञ्चात्मकं नाटकं वयमभिनेतुमिच्छामः।

(नेपथ्ये— भोः सूत! क एषः)

(कर्णौ अवलम्ब्य-प्रकाशम्) आम् ज्ञातम्। एष कुमारः सिद्धार्थः कपिलवस्तुगतोपवनविहरणार्थं सूतेन अनुगम्यमान इत एव आगच्छति। तावद् अहमपि शेषान् कुशीलवान् स्वे स्वे कर्मणि योजयितुम् नेपथ्यभूमिमेव गच्छामि।

(इति निष्क्रान्तः)

•

प्रथमं दृश्यम्

[राजमार्गः। धृतराजवेशः कुमारः सिद्धार्थः सारथिना अनुगम्यमानो दृष्टिपथम् अवतरति। तावज्जराशिथिल-सर्वाङ्गः कश्चन जनोऽवलोक्यते। नहि सिद्धार्थेन कदाचिद् दृष्ट ईदृशो जन इति सारथिं पृच्छति—]

सिद्धार्थः : भोः सूत! क एषः? किम् एतदस्य स्वाभाविकं रूपम्, उत कश्चिद् विकारः?

सरथिः : आयुष्मन्!

रूपस्य हन्त्री, व्यसनं बलस्य,
शोकस्य योनिः, निधनं रतीनाम्।
नाशः स्मृतीनाम्, रिपुरिन्द्रियाणाम्
एषा जरा नाम, ययैष भग्नः।।

सिद्धार्थः : किम् एष दोषो ममापि भविता ?

सारथिः : एवमेतत्!

सिद्धार्थः : किम् महा-आर्यस्य मम पितुरपि ?

सारथिः : अथ किम्!

सिद्धार्थः : किं मम प्रियतमाया यशोधरायाः, हृदयाभिरामस्य राहुलस्यापि च इयमेव दशा भाविनी ?

सारथिः : तात! नहि एकस्य, समस्तस्यापि प्राणिग्रामस्य अयमेव क्रमः।

[सिद्धार्थः शोकमग्नो भवति। किञ्चित्कालानन्तरं यावत् स प्रचलति तावत् कोऽपि रुग्णोऽवलोक्यते। तम् अदृष्टपूर्वं जनं दृष्ट्वा सारथिं पृच्छति—]

सिद्धार्थः : अहो!
स्थूलोदरः, श्वासचलच्छरीरः, स्रस्तांशबाहुः, कृशपाण्डु-गात्रः, अम्बेति करुणं वाचं ब्रुवाणः क एष नरः ?

सारथिः : सौम्य! अयं धातुप्रकोपप्रभवया मर्मान्तिकया रुजा पीडितः, यया शक्तोऽपि शिथिलीकृतः।

सिद्धार्थः : किं तर्हि संसारस्य सौख्यम्, देहस्य वा सौन्दर्यम्; यद् रोगैः जरया च उपप्लुतम्!

[सिद्धार्थः राजभवनं प्रति परावर्तते। तावदेव नेपथ्ये चीत्काररवः श्रूयते। क्षणमनु दृश्यते दूरत एकं मृतशरीरमुह्यमानम्]

सिद्धार्थः : अये, क एष चतुर्भिर्नरैः उह्यते ?

सारथिः : तात! एष एव स मनुष्यदेहः यो बुद्धीन्द्रियप्राणगुणैर्वियुक्तः तृणकाष्ठवत् विसंज्ञो भवति।

सिद्धार्थः : *(आत्मगतम्)* धिगस्तु खलु तारुण्यम्, यद् जरया अभिभूयते। धिक् स्वास्थ्यम्, धिक् सौन्दर्यम्, यदहरहः रुग्भिरशनीक्रियते; धिक् च तद् जीवितं यत् क्षणलेशेन चपलेव लुप्यते। *(विचिन्त्य)* किम् अस्ति काचिद् अवस्थितिरपि, यस्यां वृद्धत्व-मृत्यु-रुजः पदवीं न लभन्ताम्! अथ वा अयं जीवलोकः एषाम् आखेटकमेव! *(सारथिं प्रति)* सूत! गच्छावः गृहाभिमुखमेव। किं क्षणिकेन उपवन-विहरणादिना सुखलवेन!

सारथिः : आनेष्यामि तावद् रथम्।

सिद्धार्थः : व्यपगत इदानीं मे व्यामोहः। शाक्यगणतन्त्रस्य राजधान्या अस्याः कपिलवस्तोरिदं महावैभवम्, अन्तःपुरपुरन्ध्रीणां भ्रूविलासाः, प्रेयस्याः यशोधराया मधुरालापाः, मधुरतमस्य च शिशोः राहुलस्य शुचि स्मितम्, अस्फुटा च वाक्, सर्वमेतद् विडम्बनमात्रम्! नहि एते शक्ताः जरारोगमृत्यून् कथमपि क्षणं निरोद्धुम्! विचारयिष्ये, कथमेतैः प्राणिजातस्य विमोक्षः स्याद् इति।

•

द्वितीयं दृश्यम्

[राजभवने परिक्रममाणः विचिन्तयंश्च सिद्धार्थः]

सिद्धार्थः : *(आत्मगतम्)*

जगति क्षयधर्मके, मुमुक्षुः
मृगयेऽहं शिवमक्षयं पदं तत् ।
स्वजनेऽन्यजने च तुल्यबुद्धिः
विषयेभ्यो विनिवृत्तरागदोषः ।।
निवसन् क्वचिदेव वृक्षमूले,
विजने वायतने, गिरौ वने वा ।
विचरेयम्, अपरिग्रहो निराशः
परमार्थाय यथोपपन्नभैक्षः ।।

[मित्रं प्रविशति]

मित्रम् : आर्य! अहं नृपतिना दत्तः सखा तुभ्यम्, सोऽहं मैत्रीं प्रतिज्ञाय यदि पुरुषार्थात् पराङ्मुखं त्वाम् उपेक्षेय, तदा किं भवेन्मित्रता त्वयि। अतः सुहृद्भावेन ब्रवीमि—

आदित्यपूर्वं विपुलं कुलं ते,
नवं वयो दीप्तमिदं वपुश्च ।
तस्मात् त्रिवर्गस्य निषेवणेन
त्वं रूपमेतत् सफलं कुरुष्व ।।

इदं ते न प्रतिरूपं यत् स्त्रीषु अदाक्षिण्यम्। किंवा तत्र दाक्षिण्यमात्रेण। विषयान् दुर्लभान् प्राप्य नह्यवज्ञातुमर्हसि। किमत्र बहु वक्तव्यम्! देवराजः पुरन्दरः, महातपा अगस्त्यः, देवगुरुः बृहस्पतिः, चन्द्रः, पराशरः, वशिष्ठः,

ययातिः, पाण्डुः—सर्व एव च एते महात्मानः रतिहेतोः गर्हितानपि विषयान् बुभुजिरे!

त्वं पुनर्न्यायतः प्राप्तान् बलवान् रूपवान् युवा ।
विषयान् अवजानासि, यत्र सक्तमिदं जगत् ।।

सिद्धार्थः : वयस्य! सौहार्दव्यञ्जकं तवेदं वाक्यं सर्वथा उपपन्नं तदा स्याद्, यदि जराव्याधिमृत्युभिश्च दुःखशतैः आर्तमेतद् जगत् न स्यात्।

नावजानामि विषयान्, जाने लोकं तदात्मकम् ।
अनित्यं तु जगन्मत्वा, नात्र मे रमते मनः ।।

यदपि आत्थ—पुरन्दरादयो महात्मानः, तेऽपि यदि कामात्मकाः? तदा—

अहं पुनः भीरुरतीव विक्लवो
जराविपद्व्याधिमयं विचिन्तयन्,
लभे न शान्तिम, न धृतिं कुतो रतिम्
निशामयन् दीप्तमिवाग्निना जगत् !

प्रतीहारी : आर्य! विरहभरम् असहमाना देवी त्वां प्रतीक्षते।

मित्रम् : वयस्य! गम्यतां देव्या हृदयानुबन्धतोषाय, अहं पुनः सभाभवनमेव गच्छामि। *(इति गच्छति)*

[प्रतीहारीमनु भवनप्रवेशः]

सिद्धार्थः : *(प्रतिहारीं प्रति)* देव्या भवनमार्गम् आदेशय।

प्रतीहारी : इत इतो देवः।

(इति निष्क्रान्तौ)

•

तृतीयं दृश्यम्

[राजभवने सिंहासनस्थः राजा शुद्धोदनः सह मन्त्रधर-विनयधराभ्याम्]

शुद्धोदनः : कुमारः सदैव विचिन्तयन्निव परमं किञ्चिद् इष्टं सदैव अन्विष्यन्निव तिष्ठति। अतः सः अन्यथापि प्ररोचनीयः।

मन्त्रधरः : *(अग्रतः आगच्छन्तं कुमारमवलोक्य)* महाराज! आयुष्मान् कुमारः इत एवाभिवर्तते।

विनयधरः : *(ससम्भ्रमम् आसनादुत्थाय)* सुस्वागतं कुमारस्य!

(मन्त्रधर-विनयधराभ्याम् अभिनन्दितागमनः कुमारः पितुः समीपवर्तिनि सिंहासने तिष्ठति)

शुद्धोदनः : तात! समारब्धं नृत्योत्सवप्रसङ्गं सफलयितुं न गतोऽसि ?

सिद्धार्थः : *(मूकस्तिष्ठति।)*

शुद्धोदनः : कथं कुमारो विमनायते!

सिद्धार्थः : नरदेव! मोक्षहेतोः अहं परिव्रजितुमिच्छामि। मह्यम् अनुज्ञाम् आदिशतु!

शुद्धोदनः : *(सोत्कम्पम्)* प्रतिसंहर प्रतिसंहर, तात! बुद्धिमेतां प्रतिसंहर। तात! नहि कालस्तव धर्मसंश्रयस्य। तदिमं व्यवसायमुत्सृज त्वम्। भव तावन्निरतो गृहस्थधर्मे। तात! पुरुषस्य वयः सुखानि भुक्त्वा रमणीयो हि तपोवनप्रवेशः।

सिद्धार्थः : राजन्! यदि त्वं प्रतिभूर्भवेः एषु चतुर्षु, नाहं तदा तपोवनं श्रयिष्ये।

शुद्धोदनः : कानि तानि चत्वारि ?

सिद्धार्थः : न भवेन्मरणाय जीवितं मे,
विहरेत् स्वास्थ्यमिदं च मे न रोगः।
न च यौवनमाक्षिपेद् जरा मे,
न च सम्पत्तिमिमां हरेद् विपत्तिः।।

अथ नास्ति क्रम एषः, नास्मि वार्यो राज्ञा।

तात!
नाशीविषेभ्यो हि तथा बिभेमि,
नैवाशनिभ्यो गगनाच्च्युतेभ्यः।
न पावकेभ्योऽनिलसंहतेभ्यः,
यथा भयं मे विषयेभ्य एव।।

शुद्धोदनः : मा मा तात! *(इति मूर्च्छति)*

सिद्धार्थः : शाक्यराज! कथम् अकाले विप्लवसे। कुमारं तावद् आवाम् अनुनेष्यावः।

विनयधरः : *(सिद्धार्थं प्रति)* कुमार !
त्वत्शोकशल्ये हृदयावगाढे
मोहं गतो भूमितले मुहूर्तम् ।
शोकाम्भसि त्वत्प्रभवे ह्यगाधे
दुःखार्णवे मज्जति शाक्यराजः ।।
तस्मात् त्वमुत्तारय नाथहीनं
निराश्रयं भग्नमिवार्णवे नौः ।।

सिद्धार्थः : अवैमि भावं तनये पितॄणां
विशेषतो यो मयि भूमिपस्य ।
जानन्नपि, व्याधिजराविपद्भ्यो
भीतस्त्वगत्या स्वजनं त्यजामि ।।

अपि च—

स्वजीविकामात्रनिबद्धचित्ताः
कैवर्तचाण्डालकृषीवलाद्याः ।
शीतातपादिव्यसनं सहन्ते
जगद्धितार्थं न कथं सहेयम् ।।

मन्त्रधरः : कुमार! धर्मार्थकामेषु नूनं तव बुद्धिः नातिसूक्ष्मा विचक्षणा वा। अत एव अदृष्टस्य फलस्य हेतोः प्रत्यक्षमर्थं परिभवसि।

पुनर्भवोऽस्तीति च केचिदाहुः
नास्तीति केचिद् नियतप्रतिज्ञाः ।
अस्तीति केचित् परलोकमाहुः
मोक्षस्य योगं न तु वर्णयन्ति ।।

केचित् स्वभावादिति वर्णयन्ति,
शुभाशुभं चैव भवाभवौ च ।
स्वाभाविकं सर्वमिदं च यस्मात्,
अतोऽपि मोघस्तव एष यत्नः ।।

सर्गं वदन्तीश्वरतो यदाऽन्ये
तदा प्रयत्ने पुरुषस्य कोऽर्थः ।
एवं यदा संशयितोऽयमर्थः
तस्मात् क्षमा भोक्तुमुपस्थिता श्रीः ।।

विनयधरः : कुमार! मोक्षोऽपि नाम किम्! त्रिभिः ऋणैः मोक्ष एव परमो मोक्षः।

तत् सौम्य! मोक्षे यदि भक्तिरस्ति,
न्यायेन सेवस्व भजस्व भोगम् ।
एवं भविष्यत्युपपत्तिररस्य,
सन्तापनाशश्च नराधिपस्य ।।

सिद्धार्थः : न मे क्षमं संशयजं हि दर्शनम्
ग्रहीतुमव्यक्तं परस्पराहतम् ।
इहास्ति नास्तीति य एष संशयः
परस्य वाक्यैः, न ममात्र निश्चयः ।।
अवेत्य तत्त्वं तपसा शमेन च
स्वयं ग्रहीष्यामि तु यद्धि निश्चितम् ।।

प्रतिहारी : इदानीं यज्ञकालः संवृत्तः। यज्ञफलमादातुं स्मरन्ति ऋत्विजस्तत्र-भवन्तम्।

मन्त्रधरः : आर्य! मेधावी कुशली च साधु कुमारः। आर्यपुत्राय सर्वथा सन्तोषमावहिष्यति। इदानीं यज्ञभागमादातुम् अतिकालो भवति।

[इति सर्वे निष्क्रामन्ति]

•

चतुर्थ दृश्यम्

[अर्धरात्रिः, अन्तःपुरे स्वल्पदीपप्रकाशः, सिद्धार्थः स्वपतीः नारीः पश्यन् वर्णयति]

सिद्धार्थः : नवपुष्करगर्भकोमलाभ्यां तपनीयोज्ज्वलसङ्गताङ्गदाभ्याम्,
स्वपिति, तथाऽपरा भुजाभ्यां परिरभ्य प्रियवन्मृदङ्गमेव ।
अपरा त्ववशा ह्रिया वियुक्ता धृतियुक्तापि वपुर्गुणैरुपेता
अशयिष्ट, विकीर्णकण्ठसूत्रा गजमग्ना प्रतिपातनाङ्गनेव ।
विवृतास्यपुटा विवृद्धगात्री, प्रपतद्वक्त्रजला प्रकाशगुह्या ।
अपरा मदघूर्णितेव शिश्ये, न बभाषे विकृतं वपुः पुपोष ।।

[इतीदं दृश्यमभिलक्ष्य जुगुप्सितं भावं नाटयन् सोपानमार्गेण अवतरन् चिन्तयति—]

क्षणसम्पदियं सुदुर्लभा प्रतिलब्धा पुरुषार्थसाधनी ।
यदि नात्र विचिन्त्यते हितं पुनरप्येष समागमः कुतः ।।
लब्ध्वापि च बहून् लाभान् चिरं भुक्त्वा सुखान्यपि ।
रिक्तहस्तश्च नग्नश्च यास्यामि मुषितो यथा ।।
मानुष्यं नावमासाद्य तरेयं दुःखसागरम् ।
अयं कालो न निद्रायाः, इयं नौः दुर्लभा पुनः ।।

(आत्मगतम्) तर्हि छन्दकमाह्वयामि। छन्दक! छन्दक!
(छन्दकः प्रविशति)

छन्दकः : आज्ञापयतु तात!

सिद्धार्थः : हयमानय कन्थकं त्वरावान्,
अमृतं प्राप्तुमितोऽद्य मे यियासा।

छन्दकः : यथाज्ञापयति तातः।

सिद्धार्थः : *(आत्मगतम्)* जननमरणयोरदृष्टपारो
न पुनरहं कपिलाह्वयं प्रवेष्टा ।।

(छन्दकोऽभ्येति, कुमारश्च तेन सह निष्क्रामति)
(नेपथ्ये)

पितरमभिमुखं सुतं च बालं
जनमनुरक्तमनुत्तमां च लक्ष्मीम्।
कृतमतिरपहाय निर्व्यपेक्षः
पितृनगरात् स ततो विनिर्जगाम।।

•

पञ्चमं दृश्यम्

[भार्गवस्य आश्रमः, प्रत्यूषकालः, स्वस्था हरिणाः विहङ्गमाश्च सुप्तास्तिष्ठन्ति]

(सिद्धार्थः अश्वपृष्ठादवतीर्य छन्दकं ब्रवीति-)

सिद्धार्थः : छन्दक! त्वया मे सुमहत् प्रियं कृतम्। प्राप्तं मया ईप्सितं पदम्। बहुशश्च प्रणम्य नृपो विज्ञाप्यः—

न खलु स्वर्गतर्षेण नास्नेहेन न मन्युना ।
सत्त्वानामार्त्तिनाशाय प्रविष्टोऽस्मि तपोवनम् ।।

छन्दकः : तात,

अनेन तव भावेन बान्धवक्लेशदायिना ।
भर्तः सीदति मे चेतः नदीपङ्क इव द्विपः ।।
विमानशयनार्हं हि सौकुमार्यमिदं क्व च ।
खरदर्भाङ्कुरवती तपोवनमही क्व च ।।

तात! स्निग्धं वृद्धं च राजानम्, संवर्धनपरिश्रान्तां द्वितीयां मातरम्, बालपुत्रां कुलश्लाघ्यां पतिव्रतां देवीं यशोधराम्, पुत्रं बालं यशोधरं च त्यक्तुं नार्हसि।

तात! नास्मि शक्तः पुरे यातुं दह्यमानेन चेतसा ।
त्वामरण्ये परित्यज्य सुमन्त्र इव राघवम् ।।

सिद्धार्थः : छन्दक ! त्यज्यतां मद्वियोगसन्तापः ।
नानाभावो हि नियतः पृथग्जातिषु देहिषु ।
बहवो लाभिनोऽभूवन् बहवश्च यशस्विनः ।
सह लाभयशोभिश्च न जाने क्व गता इमे ।।

मया च यावत्—

भीतेभ्यो नाभयं दत्तम्, आर्ता न सुखिनः कृताः ।
दुःखाय केवलं मातुः गतोऽस्मि गर्भशल्यताम् ।।
अनाथानामहं नाथः, सार्थवाहश्च यायिनाम् ।
पारेप्सूनां च नौभूतः सेतुः सङ्क्रम एव च ।।
दरिद्राणां च सत्त्वानाम् अहं स्याम् अक्षयं धनम् ।
नानोपकरणाकारैः उपतिष्ठेयमग्रतः ।।
तदेवं सति सन्तापं मा कार्षीः! सौम्य गम्यताम् !

छन्दकः : सौम्य,

सानुक्रोशस्य सततं नित्यं करुणवेदिनः ।
स्निग्धत्यागो न सदृशो निवर्त्तस्व प्रसीद मे ।।
अथ बन्धुं च राज्यं च त्यक्तुमेव कृता मतिः ।
मां च त्वं नार्हसि त्यक्तुं त्वत्पादौ हि गतिर्मम ।।

[इति पादयोः पतति]

सिद्धार्थः : *(उत्थाप्य)* उत्तिष्ठ छन्दक, उत्तिष्ठ!
लम्बते यदि तव स्नेहः, गत्वापि पुनराव्रज।

छन्दकः : (सवाष्पं) सौम्य! त्वां विना नगरं प्रवेष्टुमपि न शक्नोमि। अथ शक्नुयाम्, तदा पौरं जनं किमभिधास्ये। त्वां विना भग्नाश्रयवृक्षामिव तां देवीं यशोधरां किमभिधास्ये ?

सिद्धार्थः : छन्दक! मयि स्निग्धाः कपिलवस्तुवास्तव्या एवं अभिधातव्याः —

क्षिप्रमेष्यति वा कृत्वा जन्ममृत्युक्षयं किल ।
अकृतार्थो निरारम्भो निधनं यास्यतीति वा ।।
गलन्त्वन्त्राणि तत्कामं शिरः पततु नाम वा ।
नूनं नावनतिं सोढा सर्वथा क्लेशवैरिभिः ।।

छन्दक! मद्वचनैः यशोधरापि एवम् अभिधातव्या—

वत्सं राहुलमेव पश्य, स च ते शोकं वियोगोद्भवं हर्ता, विस्मरणाय साधनमिदं मे त्वत्समीपे स्थितम्। नष्टे स्वाश्रयपादपे नवलता पार्श्वस्थमेवाल्पकं वृक्षं नाश्रयते किम्!

तदिमं जनं विस्मरेः ।।

मम त्वयि धर्ममत्सरो न शङ्कनीयः। जनन-मरणयोः पारं द्रष्टुमेव वनं प्रविष्टोऽस्मि।

रमते तृषितो धनश्रिया
रमते कामसुखेन बालिशः ।
रमते प्रशमेन सज्जनः
परिभोगान् परिभूय विद्यया ।।
अपि च प्रथितस्य धीमतः
कुलजस्यार्चितलिङ्गधारिणः ।
सदृशी न गृहाय चेतना
प्रणतिर्वायुवशाद् गिरेरिव ।।

तत् त्वमपि तत्सिद्धिकामा भव।

छन्दकः : तात!

श्रुत्वा तु व्यवसायं ते यदश्वोऽयं मया आहृतः ।
बलात्कारेण तेन्नाथ, दैवेनास्मि कारितः ।।

सिद्धार्थः : छन्दक!

शोकत्यागाय निष्क्रान्तं न मां शोचितुमर्हसि ।
अकालो नास्ति धर्मस्य कुर्यां सत्त्वार्थसिद्धये ।।

छन्दक, गृहाण एतद् मणित्सरुम्, मुकुटम्, सर्वं चैतद् अकिञ्चित्करम् आभूषणादिकम्।

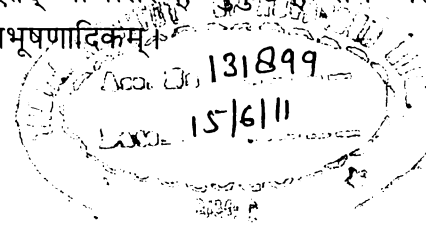

(छन्दकः हस्तयोः गृह्णाति)

गच्छ छन्दक! मा वाष्पं त्यज! दर्शितं त्वया कल्याणमित्रत्वम्! मृष्यताम्, ते अयं श्रमः शीघ्रं सफलो भविष्यति। अहं पन येन आश्रमपदं तत्र गच्छामि!

गलन्त्वन्त्राणि तत्काममम्,
शिरः पततु नाम वा ।
नूनं नावनतिं सोढा,
सर्वथा क्लेशवैरिभिः ।।

•

Library IIAS, Shimla
H 294.763 J 568 B
00131899